रूप और स्वरूप

घनश्यामदास बिड़ला

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की कई पुस्तकें 'मण्डल' से प्रकाशित हुई हैं और पाठकों ने उन्हें बहुत पसंद किया है। वस्तुतः उनका विषय-प्रतिपादन का ढंग इतना रोचक और लेखन-शैली इतनी सजीव है कि कठिन-से-कठिन चीज भी बड़ी सरल और आकर्षक बन जाती है।

इस पुस्तक में लेखक के चार निबंध दिये गए हैं। पाठक देखेंगे कि सामान्य-सी लगनेवाली बातों को लेकर लेखक ने कितनी विचार-प्रेरक सामग्री प्रदान की है। हिन्दी में इस प्रकार के निबंध कम ही मिलते हैं।

पुस्तक का यह दूसरा संस्करण निकल रहा है। हम आशा करते हैं कि पहले संस्करण की भांति इसका भी सर्वत्र स्वागत होगा।

—मंत्री

विषय-सूची

रूप और स्वरूप

रूप और स्वरूप

: १ :

रूप और स्वरूप

'आम खाना या पेड़ गिनना' ऐसा कहनेवाले व्यक्ति को अक्सर लोग समझदार मानते हैं। पर हम जरा ज्यादा सोचेंगे तो पता लगेगा कि इस उपदेशक ने शायद दूरदर्शिता की बात नहीं कही, न वह गहरे पानी में उतरने की फिक्र में था। इसलिए संभव है कि आलस्यवश झंझट में न पड़ने की फिक्र में उसने यह कह डाला हो कि आम खाना ही अभीष्ट है तो फिर पेड़ गिनना निरी मूर्खता और समय की बरबादी है। यदि वह थोड़ी मेहनत से काम लेता तो अवश्य सोचता कि यदि आम का बाग खरीदना है तो केवल एक ही दो आम खाकर झटपट बिना पेड़ गिने ही थैली खोलकर रुपया गिन देना और पीछे जब पता चले कि पेड़ बहुत कम थे और सो भी जीर्ण-शीर्ण, तब पछताना यह भयंकर मूर्खता होगी। ऐसा सोचता तो वह आम खाकर पेड़ भी अवश्य गिनवाता।

बात यह है कि रूप और स्वरूप का यह पुराना झगड़ा है। साधारण मनुष्य जो चीज सामने दिखाई

देती है उसे ही स्वीकार करके उसपर इमारत बनाता है, तो तत्त्ववेत्ता जो दृष्ट है उसे भूलकर अदृष्ट की बातें करता रहता है। तत्त्ववेत्ताओं ने समझाया कि ऊपरी शक्ल में कुछ नहीं रखा है, जो रूह है वही सच्चा स्वरूप है, उसीकी कीमत है और वही ग्रहण करने योग्य है। 'गुलाब किसी भी नाम से पुकारा जाय आखिर गन्ध तो देगा ही।' ऐसा कहकर उन्होंने नाम की अवहेलना करके तत्त्व की महिमा गाई।

कबीर ने भी 'तू कत बंभन हम कत सूद, हम कत लोहू तू कत दूध' कहकर नाम और रूप दोनों की अवहेलना करके स्वरूप पर जोर दिया। तू ब्राह्मण क्यों और मैं शूद्र क्यों ? आखिर दोनों ही में तो लोहू है। यह तो है नहीं कि मेरी नसों में तो लोहू है और तेरी नसों में दूध ? तो फिर ऊपर की शक्ल तुम्हारी ब्राह्मण की हो, गले में जनेऊ हो, ललाट पर तिलक हो और मेरी शक्ल शूद्र की हो तो भी क्या ? जब भीतर वही रक्त, वही हाड़-मांस है तो हम दोनों ही समान हैं, न तू ब्राह्मण है और न मैं शूद्र। ब्राह्मण और शूद्र को उसकी वृत्ति से पहचानो। वृत्ति ही असली स्वरूप है।

पर यह तत्त्ववेत्ता के वाक्य हैं। संसारी लोग कबीर की तरह संसार को खुर्दबीन, माइक्रोस्कोप या एक्सरे से नहीं देखते। संसार को यह आम खाने

और पेड़ न गिनने की आदत के पक्ष में काफी मसाला है। तत्त्ववेत्ता वस्तु का असली रूप उसे ही मानता है जो दृष्ट के पीछे अदृष्ट है। उसे मनुष्य की एक्सरे तसवीर ज्यादा आकर्षित करती है, बजाय उसकी बाहरी तसवीर के। भीतर फुप्फुस, गुर्दा, लीवर, हृदय इत्यादि अंग-प्रत्यंग अपना-अपना काम कैसे करते हैं, इसमें एक प्रकांड चिकित्सक को ज्यादा दिलचस्पी होती है, बजाय बाहरी रूप के। मनुष्य-शरीर तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में हाड़, मांस, रक्त, मज्जा, मेद इत्यादि का एक भांड है। मनुष्य का असली स्वरूप उसकी आत्मा है, पर साधारण मनुष्य यदि इस तरह सब चीजों को देखे तो अवश्य ठोकर खा जाय। इसलिए वह इन झंझटों में नहीं पड़ता और जो सामने है उसे ही देखता है।

यह मान भी लें कि चाहे किसी भी नाम से पुकारो, गुलाब की गन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी यह मानना होगा कि गुलाब को यदि हम नरक के नाम से पुकारें तो अवश्य एक सूग पैदा होगी, चाहे उसमें सुगन्ध कितनी ही आती रहे। इसलिए साधारण मनुष्य गन्ध के साथ-साथ नाम और रूप पर भी मोहित है और उसने गुलाब का नाम गुलाब ही रखकर रूप की पूजा की और स्वरूप का तिरस्कार भी नहीं किया।

संसारी मनुष्य नाम और रूप की पूजा करके तत्त्व-

वेत्ता के मुकाबले में हल्का उतरता, ऐसी बात भी नहीं है। आखिर रूप का भी तो महत्त्व है ही ।

राम, कृष्ण, जिन्हें हम अवतार मानते हैं, उनपर पुराने शास्त्रकार उसलिए मुग्ध नहीं हुए कि रामचन्द्रजी या कृष्णजी चोटी के एक नेता थे, जिन्होंने समाज और राष्ट्र की बड़ी सेवा की या उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था अथवा वे निरामिषभोजी और त्यागी थे और उनमें वह वक्तृत्व-शक्ति थी कि जनता चित्रांकित और मंत्रमुग्ध हो जाती थी या उन्हें शरीर और कपड़ों की कोई सुध नहीं थी । इन बातों में उनकी कोई तारीफ़ नहीं थी । उलटा, उनके माहात्म्य का जो वर्णन है वह या तो उनके सौन्दर्य का है, या उनके बाहुबल का ।

दोनों-के-दोनों अवतार सौन्दर्य के ही तो रूप थे । स्त्रियां उन्हें देखकर मोहित हो जाती थीं और पुरुष देख कर विस्मय करते थे । अच्छे वस्त्र और आभूषणों को स्वीकार करके उन्होंने सादगी का भी तिरस्कार किया । कमललोचन, विशाल बाहु, उन्नत स्कन्ध, कठोर जंघा, इत्यादि की प्रशंसा करने में न तो उन्हें और न उनके प्रशंसकों को ही संकोच हुआ । इसी तरह उनके बाहु-पराक्रम का वर्णन करते समय भी कवि ने उनके द्वारा की गई हिंसा का खूब ठाट से वर्णन किया । राम-कृष्ण ने तो बात-की-बात में दुष्टों का नाश इस तरह

किया मानो घास काट रहे हों। किसीको बाणों से, तो किसीको वज्र से और किसीको गदा से मार गिराया।

आज की-सी रुचि यदि उस जमाने की होती तो क्या मजाल कि कवि उनके सौन्दर्य या उनके हिंसक पराक्रम का इस तरह रस भरा वर्णन करता। जिस बुरी तरह से राम-कृष्ण दुष्टों को काटते थे उस तरह तो क्या, आज का नेता यदि साधारण बेंत से भी किसीपर प्रहार कर दे तो देशी और विदेशी अखबारों में तहलका मच जाय और नेता को गिड़गिड़ाकर माफी मांगनी पड़े।

इसके यह माने नहीं कि आज के लोग अहिंसक और अत्यन्त सादे हैं या आज का नेता स्वयं अहिंसक या सादा बन गया है। बात यह कि लोगों का दृष्टिकोण और मूल्य आंकने का तरीका बदल गया है और इसलिए ग्राहकी में फर्क पड़ गया है।

सौन्दर्य की उपासना तो कम नहीं हुई, पर नेताओं से तकाजा सौन्दर्य का नहीं है। उनसे चाह कुछ दूसरी ही शक्ल की है। इसलिए नेता ने भी बाध्य होकर सौन्दर्य और हिंसा से संबंध-विच्छेद कर लिया है। नेता को सजावट और बनावट में दिलचस्पी हो भी तो उसकी हिम्मत नहीं कि वह दिलचस्पी प्रकट करे। इसलिए उसे अपनी शक्ल को भी बदलना पड़ा है। एक विख्यात नेता के बारे में तो यहांतक कहा जाता है कि उनके मीटिंग के कपड़े अलग होते थे और साधारण समय की पोशाक

अलग। आज कोई नेता, कितनी भी उसकी सेवा हो, यदि रंगमंच पर सूट-बूटधारी होकर खड़ा हो तो लोगों के दिल पर जबरदस्त धक्का लगेगा और लोग उसके बारे में कानाफूसी करने लगेंगे।

यह भी यही सिद्ध करता है कि हम स्वरूप के नहीं रूप के ही उपासक हैं। हम कहां नेता के भीतर प्रवेश करते हैं? कहां हम देखते हैं कि नेता तमोगुणी है या सतोगुणी, चरित्रवान है या सैलानी जीव? हम तो इतना ही देखते हैं कि उसने क्या कहा, कब जेल गया, कैसा भाषण दिया और उसका बाहरी आडम्बर क्या है और अखबारों ने उसको कैसा चित्रांकित किया है।

प्राचीन लोगों ने जहां अपने आदर्श पुरुष को सुन्दर, आभूषणों से सजा हुआ, कसा हुआ धनुषधारी देखना चाहा तो उस समय का नेता भी उनके सामने उसी शक्ल में आया। आज के लोग अपने नेताओं की गिरी हुई शक्ल, मैले कपड़े, झुकी हुई कमर, कुछ-कुछ खांसी की ठबक के साथ देखकर खुश होते हैं, तो नेता भी जब प्लेटफार्म पर चढ़ता है तो कुछ अलग ही सूरत में आता है। उसके दिल में अहंकार, गरूर और प्रलयंकारी क्रोध भी हो तो जनता के सामने विनम्र, झुका हुआ और मुस्कान के साथ ही अभिवादन करता हुआ प्रकट होता है। नेता को खांसी न भी आती हो, तो भी प्लेटफार्म पर उसे पैदा करना ही शायद अच्छा लगता होगा।

स्त्रियों को भी इस जमाने के लोग एक खास तरह से सजी हुई देखना चाहते हैं। नतीजा यह है कि नूपुर और ताम्बूल गया और ऊंची एडी का जूता और लिपस्टिक आया। सोना और मोती-मणियों के आभूषण गये, कौड़ी और हाड़ों की मालाएं आईं। योरप और अमरीका में ताम्रवर्णी स्त्रियां सुन्दर मानी जाने लगीं तो लाखों युवतियां समुद्रतट पर सूर्य को ले-लेकर अपना रंग बदलती हैं। यहां भी यदि यह फैशन चल जाय कि रंग तो श्यामल ही अच्छा तो फिर शायद स्त्रियां मुंह पर कोयला भी पोतने लगें।

पुराने समय में ऋषि-मुनियों को लोग जटाजूटधारी, भस्मी लपेटे हुए और रुद्राक्ष की माला सहित देखना पसंद करते थे तो ऋषि-मुनि भी उसी शक्ल में फिरते थे। ऋषि को राजा की लड़की ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होता था, पर दिमाग पर इतने बड़े बालों का वण्डल लेकर फिरना और नाहक गन्दगी मोल लेना उसे नहीं अखरता था। सेफ्टी रेजर न सही, पर उस जमाने में उस्तरे की कोई कमी नहीं थी। पर मजाल ऋषि जटा काटें। ग्राहक जो मांगता है वही तो दूकान पर रखना पड़ता है!

पुराने ग्राहक अवतार को जिस रूप में चाहते थे उसी रूप में अवतार सामने आया। ऋषि को जैसी सूरत में देखना चाहते थे उसी सूरत में ऋषि आया। इसी

तरह आज के लोग जिस रूप में नेता को देखना चाहते हैं उसी रूप में नेता को आना पड़ता है। रूप की महिमा हजारों साल के बाद भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

क्या करे पुराना नेता और क्या करे नया। फसाद तो सारा यह जनता का है। इस दृष्टि से किस रूप को सिंहासन पर बैठाना और किसको गिराना यह भी बड़े महत्त्व का विषय है। **'विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैः सतांगुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः'**, विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्चकुल यह किसी जमाने में सत्पुरुषों की निशानी थी। अब यह सब बदल रहा है। विद्या तो बुनियादी तक और तप जेल तक सीमित हो गया। जवानी का सम्मान सोशलिस्ट लोगों तक ही सीमित है। धन, सुदृढ़ शरीर और उच्चकुल तो दूषण हैं। इन्हें गुण बताना फटकार सुनना है।

यह बदली हुई भावना अच्छी है या बुरी, यह तो विचारने की बात है।

नेता के नसीब में से कसरती शरीर, सौन्दर्य, अच्छे वस्त्र और योगक्षेम तो उसी जमाने में चला गया जबकि नेता कारावासी था। उस समय नेता ने गरीबी मेटने की ललकार तो लगाई, पर उलटा दरिद्रनारायण की प्रशंसा में पड़कर दरिद्रनारायण और उसके साथ-साथ कुरूप-नारायण, रोगनारायण, मलिननारायण को भी सिंहासन पर आसीन कर दिया, चाहे 'हाथ सुमरनी कांख कतरनी

ही रही हो। अब नेता राजा बन गया। इसलिए राजसी ठाठ के साथ कई तरह के ये विचित्र, दरिद्र, मलिन, कुरूप-नारायण इत्यादि कहांतक निभेंगे यह सोचने की बात है।

जो हो, रूप का मोह संसार ने न छोड़ा, न कभी छोड़ेगा। **"पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ स्वकन्यां चर्माम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः,"** समुद्र ने पीताम्बर पहने देखकर अपनी कन्या लक्ष्मी को तो विष्णु को दे डाला और बेचारे शिव को चमड़ा लपेटे हुए देखकर ज़हर अर्पण किया। इस तरह का घोटाला फिर न हो इसलिए स्वतन्त्रता के बाद अब नेता को भी चर्माम्बरी न होकर पीताम्बरी बनने के लिए सत्साहस करना अच्छा लगता है। बाकी जनता-सरकार की मर्ज़ी।

रूप और स्वरूप में कुछ समन्वय भी होना जरूरी है। एक तरफ यह राजसी ठाठ, दूसरी ओर यह अजीब वेशभूषा और भीतर धधकती हुई अभिलाषा का यह सम्मिश्रण ! कुछ दिन बाद ऐसा लगेगा, जैसे हलुवे में नीम या लंगोटी पर मुकुट।

पर बात तो यह थी कि आम खाना तो पेड़ क्या गिनना ! इतनी बकझक के बाद भी मुझे यही लगता है कि आम भी खाना चाहिए और पेड़ भी गिनने चाहिए। रूप भी ठीक चाहिए और स्वरूप भी। **'विषकुम्भं पयोमुखम्'** भी बुरा और **'पयोकुम्भं विषमुखम्'** भी बुरा। जरूरत तो यह है कि पयोकुंभम् भी हो और पयोमुखम् भी हो।

: २ :

लोक और परलोक

स्वर्ग-नरक की यह परम्परा सदियों से चली आतो है और इसमें दिलचस्प बात तो यह है कि सभी मुल्कों में और सभी मजहबों में इनका वर्णन करीव-करीव मिलता-जुलता है। मेरा खयाल है कि वेदों में स्वर्ग का इस तरह का रोचक वर्णन नहीं है और न उपनिषदों में ही स्वर्ग-नरक का रोचक और भयानक विवरण मिलता है।

जो पुण्य करते हैं वे स्वर्ग को जाते हैं, और पापी नरक में, ऐसा बताया गया है। पर क्या स्वर्ग का जो वर्णन है वह पुण्यशीलों के लिए आकर्षक हो सकता है ? इसमें सन्देह है। स्वर्ग के राजा इन्द्र का तो यह हाल है कि जहां किसीने तप का आरम्भ किया कि उसके दिल में घबराहट पैदा हो जाती है। होनी तो चाहिए, देवता को क्या हर पुरुष को, खुशी कि कोई पुण्यशील व्यक्ति शुभ कर्म में जुटना चाहता है। देवता को तो और भी अधिक खुशी होनी चाहिए। पर इससे उलटा कोई तप करता है तो इन्द्र के घर मानो स्यापा-सा पड़ जाता है। कारण यह माना जाता है कि तप सिद्ध होने पर तपस्वी द्वारा इन्द्र का इन्द्रासन छीन लिये जाने का भय रहता है।

पर यदि दो तपस्वी एक ही कोटि के हों तो फ़िर इन्द्रा-

सन एक ही को मिलेगा या दोनों को ? यह प्रश्न सुल-झाया नहीं गया। हां, एक आसन के दो उम्मीदवार होने का मौका आया हो, इसका पुराणों में कोई प्रसंग नहीं मिलता। और किसी तपस्वी ने अपने तप के बल से इन्द्र को दरिद्र बना डाला हो ऐसा भी मेरी निगाह में कोई उदाहरण नहीं आया।

ब्रह्म-हत्या के आक्रमण से डरकर इन्द्र अपनी पुरी छोड़ भाग गया, तब ऋषियों ने इन्द्रपुरी को सूना छोड़ना उचित न जानकर नहुष को इन्द्रासन पर बैठा दिया। पर नहुष भी निकम्मा निकला। उसके सिर पर ऐसा भूत सवार हुआ कि उसने इन्द्राणी को छीनना चाहा। उसकी जब नीयत बिगड़ी तो फिर उसे सर्प बनना पड़ा। यही एक उदाहरण इन्द्रासन पर कब्जा करने का आता है और सो भी लोकमत से बाध्य होकर। बाकी तो ध्रुव-प्रह्लाद जैसे अनेक तपस्वी हुए, जिन्होंने इन्द्र के मोहल्ले की तरफ आंखतक उठाकर न देखा। तो फिर पता नहीं इन्द्र तप करनेवालों से इतना क्यों डरता था ? शायद उसका स्वभाव ही शक्की बन गया था !

जो हो, स्वर्ग के राजा इन्द्र का धन्धा शिष्ट पुरुषों के आचार-विचार से इतना उलटा रहा है कि तपस्वी को स्वर्ग लुभावना लगे, यह समझ में नहीं आता।

इन्द्र स्वयं ऐश में गर्क रहता था, अप्सराएं उसके यहां नित्य नृत्य-गान किया करती थीं और मालूम होता

है कि उनका इन्द्र के साथ काफी लगाव-उलझाव भी था। इन्द्र को भी केवल अप्सराओं से ही संतोष नहीं था, और वह इधर-उधर भी चक्कर काटा करता था, जिसके फल-स्वरूप गाली-गलौज के सिवाय शाप तक की भी नौबत आ गई थी।

इधर अप्सराओं का यह हाल कि किसीने तप शुरू किया कि झट इन्द्र की प्रेरणा से वे तपस्वी को गिराने-उलझाने की फिक्र में लग जाती थीं। एक-आध मर्तबा तो वे खुद भी फंस गईं। मेनका और विश्वामित्र का किस्सा तो है ही। इधर उर्वशी का पुरुरवा में मन फंस गया। ऐंसे अनेक किस्से हैं जो स्वर्ग की स्वर्गीयता सिद्ध नहीं करते।

स्वर्ग की अन्य भी अनेक विचित्रताएं मिलती हैं। नारद और अन्य ऋषि-मुनि तो बिना मरे भी बेरोक-टोक स्वर्ग में आते-जाते रहते थे; पर दूसरी तरफ त्रिशंकु बेचारा सशरीर जाने लगा तो उसे धक्के खाने पड़े! स्वर्ग की ये परस्पर-विरोधी बातें और उसकी महिमा उलझन में डालनेवाली हैं और विदेशियों के जन्नत से इतनी मिलती-जुलती हैं कि यह संस्था जिस रूप में वर्णित है वह आर्य है या अनार्य, इसमें भी शंका उपजती है। पर यह सब तो विद्वानों के अन्वेषण की सामग्री है।

गोलोक, विष्णुलोक ये कुछ भिन्न प्रवृत्ति के लोक

थे। उनका भी वर्णन है। पर वहां यह खटपट और षड्-यंत्र नहीं रहे।

दूसरी ओर गीताकार ने भी 'ते तं भुक्त्वा स्वर्ग-लोकं विशालम्' कहकर स्वर्ग की महिमा बढ़ाई है। पर उपर्युक्त स्वर्ग और गीता का स्वर्ग दानों एक ही प्रांत की राजधानी हों, ऐसा नहीं लगता। गीता का स्वर्ग, पुन-र्जन्म और मुक्ति समालोचना की कसौटी पर कसे जाने लायक मसाला है। पर इन सबका अर्थ स्पष्ट नहीं है। असलियत क्या है, इसकी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, कल्पना ही की जा सकती है।

मुझे तो लगता है कि गीता के स्वर्ग और नरक शायद इसी संसार में और अक्सर इसी शरीर में ही हमें मिल जाते हैं। रोजमर्रा हम गीता के स्वर्ग और नरक की यात्रा करते रहते हैं। अच्छी बस्ती में अच्छी वायु में विचरते हैं तो स्वर्ग और गन्दगी में हमें नरक का अनुभव होता है। सज्जन की संगति में स्वर्ग और कु-संग में नरक का अनुभव लेते हैं। तबीयत फुर्तीली होती है तो स्वर्ग का सुख अनुभव करते हैं और रोग में नरक का दुःख झेलते हैं। क्रोध या लोभ का भूत सवार हो गया तो समझिये कि नरक में पड़ गये; दया, उदारता की भावना उठती है तो स्वर्ग-सा लगता है।

व्यायाम करना, हित और मित भोजन करना, आहार-व्यवहार दुरुस्त रखना पुण्य है; क्योंकि इसके फलस्व-

रूप हमें तंदुरुस्ती मिलती है। उद्योग करना, निरालस होना यह भी पुण्य की निशानी है; क्योंकि इसके कारण दरिद्रता भागती है और लक्ष्मी आती है।

पुण्य क्षीण होते ही हम स्वर्ग से गिर मृत्यु-लोक में आ पड़ते हैं। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति' अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर याने मिथ्या आहार-विहार, व्यायाम के छोड़ने से, गन्दी हवा और गन्दे वातावरण में रहने से कुसंग करने से हमें दुःख और रोग-शोक का सामना करना पड़ता है। हम शुभ कर्म करके मरते हैं और लोग हमारी मृत्यु पर परिताप करते हैं तो हम स्वर्ग में गये हैं, ऐसा मानना चाहिए; अन्यथा नरक में। यदि स्वर्ग-नरक यहीं है तो फिर उन्हें दूर खोजने की आवश्यकता कहां?

सभी धर्मों में स्वर्ग और नरक के बहाने लोगों को अच्छे सलूक से चलने का उपदेश दिया गया है। साधारण बुद्धि के लोगों को हम कहें, "अच्छा करोगे तो स्वर्ग, और बुरा करोगे तो नरक पाओगे" तो उसका उनके मन पर असर होता है। इस जीवन में जिन्होंने ऐश-आराम, खाना-पीना और विषय को ही सुख माना हो, जिन्हें सुख में आकर्षण और दुःख का भय हो, उन्हें अवश्य ही स्वर्ग का लोभ दान-पुण्य और भलाई की ओर खींचता है और नरक का डर बुराई से हटाता है। पर यह लोभ या डर साधारण लोगों तक ही परिमित है। जो लोग गहरी

कौड़ी लाते हैं उन्हें स्वर्ग और नरक में खोखलापन लगता है।

फिर भी, मनुष्य हानि-लाभ की संभावना से काफी प्रभावित होता रहता है। मनुष्य लोभ व डर का पुतला है। तो फिर मालूम होता है कि कुछ ऊंची सतह पर विचारनेवालों के लिए स्वर्ग-नरक की जगह पुनर्जन्म की योजना रखी गई।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

'यह न जन्मता है, न मरता है। यह शरीर के मरने पर भी मरेगा नहीं।' पर यह आत्मा के संबंध में कहा गया है। हिन्दुओं ने सर्वसम्मति से आत्मा को अजर और अमर माना है। शरीर की तो यहीं राख हो जाती है। उसका जन्म कहां? पर कहा गया है कि जबतक आत्मा मोह-माया और कर्म-बंधन में फंसी है तबतक शरीर धारण करती और छोड़ती रहती है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जैसे कपड़ा पुराना होने पर दूसरा कपड़ा पहन लिया जाता है, वैसे ही आत्मा भी पुराना चोला छोड़कर दूसरा

शरीर बदलती है। यही पुनर्जन्म है। पर इतने से ही तो गुत्थी नहीं सुलझती।

वैज्ञनिक लोग कहते हैं कि रक्त के एक छींटे में करोड़ों जीव हैं। इस हिसाब से हमारे शरीर में असंख्य जीव हैं। उनका अपना-अपना कर्म रहता होगा। उनकी बुद्धि और अहंकार भी अलग-अलग होंगे। जब हमारा शरीर जल जाता है तब उसके साथ वे सब असंख्य जीव भी जल जाते हैं। तो क्या वे भी जलूस बनाकर सब-के-सब एक साथ ही एक ही शरीर में अपना अड्डा जमाते हैं ? या अलग-अलग ? यदि संयुक्त् अड्डा एक ही शरीर में जमाते हैं तो क्या उन असंख्य जीवों का उनकी असंख्य मृत्युओं के बाद एक ही जन्म होता है ? या अलग-अलग ? यदि उनका अलग-अलग जन्म होता है तो किस हिसाब से ? क्या उन सबके कर्म अलग-अलग थे ?

यदि एक-एक शरीर में एक-एक आत्मा रहती है तो हमारे शरीर में असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों में असंख्य आत्माएं हैं। फिर अपने इस शरीर को हम एक ही शरीर क्यों मानें ? कर्म भी एक ही का किया हुआ कैसे माना जायगा जबकि इसके भीतर असंख्य स्वामी बैठे हैं ? 'राम का यह शरीर है' ऐसा न कहकर यह कहना होगा, 'इन असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पुंज को लोग राम के नाम से पुकारते हैं।'

यदि सब जीवों के कर्म अलग-अलग नहीं हैं, एक

ही हैं, यदि इस शरीर में रहनेवाले असंख्य जीवों का एक ही सम्मिलित कुटुम्ब है तो फिर इस कुटुम्व की सीमा एक शरीर तक ही क्यों सीमित हो ? सारे विश्व के प्राणियों को भी हम एक ही सम्मिलित कुटुम्व में क्यों न मानें ? और यह भी क्यों न मानें कि अन्त में हमारे सबके पाप-पुण्य एक ही थैले में जमा होकर साम्यवाद के सिद्धांत पर विश्व के सभी जीवों को उसके बटवारे का अच्छा और बुरा हिस्सा मिलता है ?

पाप हिटलर ने किया पर भुगता जर्मनी ने, इंग्लैंड ने, अमरीका और अन्य देशों ने भी। हाथ में फोड़ा होता है तो दर्द तो हाथ में होता है, पर कष्ट तो सारे शरीर को भुगतना पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं यदि हमारे पड़ोसी की करनी का फल हमें भी चखना पड़े। चाहे पूरा नहीं तो अधूरा, या अधूरे का भी अधूरा ही सही।

यदि आत्मा अनेक नहीं, एक ही हो तो फिर पुनर्जन्म की सारी कल्पना को सुधारना पड़ता है। जो नया शरीर बनता है, उसमें वही व्यापक आत्मा है जो अन्य शरीरों में पहले से ही थी। जिस तरह आकाश सब जगह है, न किसी पात्र के फूटने से लोप होता है और न नये पात्र बनने से नया बनता है—वैसे ही यदि आत्मा सदा और सर्वत्र है तो फिर जन्म किसका ?

यह सही हो सकता है कि पुराने कपड़े की तरह जब शरीर जर्जर हो जाता है तो आत्मा नया चोला पहन

लेती है। पर यह तो इतना ही हुआ कि जो व्यापक आत्मा पहले से ही असंख्य शरीरों में एकरस और सदा से व्याप्त थी, उसका अनेक शरीरों में से केवल एक शरीर जब जीर्ण हुआ तब उसकी जगह एक और नया शरीर धारण कर लिया—याने सहज अपनी सीमा का संकोच और विस्तार किया।

आकाश यदि असंख्य पात्रों में प्रविष्ट है और उनमें से एक पात्र पुराना होकर फूट जाता है और उसकी जगह नया पात्र आ जाता है तो इतना ही कह सकते है कि एक नया पात्र आया—पुनः एक पात्र आया। पर यह नहीं कह सकते कि आकाश ने पुनर्जन्म लिया। सर्व-व्यापी आकाश तो जैसा था वैसा ही है। एक पात्र फूटा और एक बना। एक पात्र मरा और दूसरा जन्मा। पर जो मरा वही नहीं जन्मा। तो फिर आत्मा ने असंख्य शरीरों के रहते-रहते एक नया शरीर धारण किया तो इसमें पुनर्जन्म किसका हुआ ?

गंगोत्री से गंगा चलती है तब उसमें थोड़ा-सा पानी होता है। फिर रास्ते में चलते-चलते अनेक नदी-नाले उसमें मिल जाते हैं। ज्यों-ज्यों गंगा आगे सरकती जाती है तो उसमें अनेक तरह का मैल, मिट्टी, भिन्न-भिन्न जाति के पत्ते, कूड़ा-कर्कट मिलता जाता है। शहरों के पास से गुजरती है तब उसमें मलमूत्र के गन्दे नाले भी मिल जाते हैं। वर्षा का पानी भी बीच-बीच में मिलता जाता

है। जमुना, चंबल, गंडक, गोमती, घाघरा इत्यादि नदियां भी आगे चलकर मिल जाती हैं। सारा-का-सारा पानी हिमालय का ही नहीं होता। विन्ध्याचल का, आकाश का मेघों का भी जल उसमें मिल जाता है। इस तरह अनेक तरह का मिश्रण होते हुए भी हम उसे गंगा के नाम से ही पुकारते जाते हैं। जिन नदियों का गंगा में लोप हो गया, उनके नाम और रूप दोनों मिट जाते हैं। इसी-के साथ-साथ गंगा का कुछ पानी नहरों में बिखरकर गंगा में से निकल जाता है। वह पानी कौन-सा था, हिमालय का या विन्ध्य का, इसका कोई हिसाब नहीं। कई चीजें निकल गईं। कई नई मिल गईं। जो गंगा गंगोत्री से चली थी, वह समुद्र तक पहुंचते-पहुंचते बदल गई। गंगोत्री की गंगा और गंगासागर की गंगा में अन्त में इतना ही सादृश्य रह जाता है, जितना कि बैल और मगरमच्छ में। तब भी हम उसे कहते हैं गंगा ही। पर समुद्र में मिलते ही गंगा का नाम मिट जाता है। यही गंगा की मृत्यु हुई, यद्यपि गंगा का पानी तो समुद्र पड़ा ही रहा।

फिर समुद्र में से पानी भाप बनकर आकाश में बादल होकर कई जगह बरस जाता है। जो पानी बरसा, उसमें गंगा का भी पानी था। चंबल, जमुना, गंडक, गोमती का भी था। हिमालय के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का भी था और गन्दे नाले का भी था। वर्षा का यह पानी जो जगह-

जगह से एकत्र हुआ था, वह अब कृष्णा, कावेरी, नर्मदा और ताप्ती में और अनेक जोहड़ों और पोखरियों में गिरा। तो क्या गंगासागर की वह गंगा वही थी जो गंगोत्री की थी ? गंगा से हमारा क्या तात्पर्य था ? और जब गंगा का पानी मरकर याने भाप बनकर ऊपर गया तो मृत्यु गंगा की हुई या सैकड़ों नालों और नदियों की ? और फिर जब उन्हींका पानी बरसकर गिरा तो जन्म किसका हुआ ? गंगा का या मिश्रित नदी-नालों का या भिन्न-भिन्न पानियों का, गंडक और गोमती का ? और जब एक ही गंगा का पानी कई नदियों में गिरा तो क्या एक ही गंगा के कई जन्म हुए ? पर बात यह हुई कि न तो एक नदी की मृत्यु हुई, न एक नदी एक जगह जन्मी। कई पानियों का मिश्रण मरा जो कई जगह पुनः उद्भव हुआ। न गंगा अकेली मरी न उसने एक ही शरीर धारण किया। तो फिर किसका जन्म और किसकी मृत्यु ? यह तो सारा-का-सारा साम्यवाद-सा मालूम होता है।

विश्व एक था, एक है, एक रहेगा। इसमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसलिए न मरता है न जन्मता है। कहीं से एक टुकड़ा लोप होता है तो कहीं उदय होता है। पर जो लोप हुआ वही उदय हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। पर यह भी कल्पना ही है।

पता नहीं, जब पुनर्जन्म कहते हैं तब इतना ही क्यों

नहीं मानते कि कोई एक जन्म हुआ। किसका जन्म हुआ? जिसका हुआ उसीका। पुनर्जन्म हुआ, इसका इतना ही तात्पर्य क्यों न मानें जितना यह कहने का कि पुनः वर्षा हुई, पुनः खांसी आई या पुनः छींक आई। पुनः खांसी से इतना ही निर्देश होता है कि खांसी फिर से आई, न कि कोई खांसी थी वह मरकर फिर से वही अपने संस्कार लेकर आ धमकी। पर जब कहते हैं, पुन-र्जन्म हुआ तब उसी वाक्य का हम दूसरा अर्थ कर लेते हैं।

बच्चा जब जन्मता है, बिल्कुल अबोध होता है। धीरे-धीरे उसका बदन बढ़ता जाता है। मस्तिष्क का विकास होता जाता है। फिर बुद्धि फैलती है। अच्छी संगत से उसमें अच्छे गुणों का समावेश होता है, बुरी से ऐब आते हैं। फिर बाद में बदला-बदली चलती ही रहती है। कभी मोटा, कभी दुबला, कभी क्रोध, कभी दया। अनुभव के साथ ज्ञान बढ़ता है, या विलास में पड़कर ऐब बढ़ते हैं। इस तरह बाल्य, युवा और प्रौढ़ अवस्था आती है। बाल काले से सफेद हो जाते हैं। फिर वृद्धावस्था आती है।

अब जिसने इस पुरुष को बाल्यावस्था में देखा हो, वह बुढ़ापे में कैसे पहचानेगा? नाम वही रहा हो, पर मनुष्य तो वह है ही नहीं। हर पल परिवर्तन होता है और हर परिवर्तन में मृत्यु और जन्म, धाराप्रवाह गति

से चलते ही रहते हैं। जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह भी एक नया परिवर्तन-मात्र है।

मरे मनुष्य का पानी बनकर न मालूम किस आम के फल का रस बनता होगा। उसका पृथ्वीतत्त्व न मालूम किस कटहल के फल में समाविष्ट होता होगा। इस तरह न मालूम उसके शरीर के कितने विभाग बनकर कितनी जगह पुनः उद्भव होते हैं या पुनर्जन्म लेते हैं। उसी तरह उनके आध्यात्मिक गुण-दुर्गुण भी क्या पता कितनों से उसे मिलते हैं और कितनी जगह उनका उद्भव होता है। उसके पाप-पुण्य या दुःख-सुख भी न जानें कितनों के हिस्से में आते हैं और न मालूम कितनों के पाप-पुण्य उसके हिस्से में आते हैं।

तो फिर उसकी आत्मा को सीमित मानना यह हमारी कूपमंडूकता ही तो है।

एक बात जंचती है। ज्ञानी के जन्म-मृत्यु छूट जाते हैं। वह मुक्त हो जाता है, यह सही है। जिसने जान लिया उसने शायद यह भी जान लिया कि इस ईश्वरीय साम्यवाद में जन्म-मृत्यु है ही नहीं। न कोई अपना है, न पराया।

पर कौन कहे असलियत क्या है?

: ३ :

स्थूल और सूक्ष्म

स्थूल और सूक्ष्म के तुलनात्मक विवेचन में तत्त्ववेत्ताओं में चाहे मतभेद न रहा हो, पर साधारण जन-समाज स्थूल का ही उपासक रहा है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि स्थूल सामने है और सूक्ष्म परोक्ष है।

सोने की कदर इसलिए है कि उसके भीतर सूक्ष्म रूप से कीमत छिपी है। एक साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि सोने का संग्रह प्रकारान्तर में जिन्सों का ही संग्रह करना है। पर नोट के भीतर सोना और कीमत दोनों ही सूक्ष्म रूप से निवास करते हैं, तो भी एक पिछड़ा हुआ गंवार नोट की अपेक्षा सोने की तरफ अधिक आकर्षित होता है—चाहे सोना एक सौ की कीमत का हो और नोट एक हजार का। और यदि पशु के सामने हम चारा, सोना और नोट तीनों चीजें रखें तो वह नोट और सोने को अग्राह्य मानकर चारे पर झपटेगा।

बात यह है कि सूक्ष्म बुद्धिगम्य वस्तु है। बुद्धि जितनी ही कुशाग्र और प्रखर हो, उतना ही अधिक हम सूक्ष्म की तह में उतर सकते हैं। असल में ज्यों-ज्यों हम गहरे पानी में उतरने लगते हैं त्यों-त्यों बुद्धि भी कुंठित होती जाती है। और एक हद के बाद तो हमें

केवल श्रद्धा से ही काम लेना पड़ता है। पर विवेकी की श्रद्धा मूर्ख की अंध-श्रद्धा नहीं है। समझदार की श्रद्धा के पीछे बुद्धि-प्रयोग हर हालत में जारी रहता है। इसलिए उसकी श्रद्धा को भी ज्ञान ही कहना चाहिए, चाहे वह ज्ञान सीमित और कुंठित ही हो।

पर उस सीमित ज्ञान और तर्क के आधार पर भी इतना तो हम समझ गये हैं कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का प्रभाव अत्यन्त विशाल-है। स्थूल मरणान्त है, जड़ है, गम्य है, सूक्ष्म अनन्त है, अनादि है और अगम्य है।

मनुष्य की बनाई चीजों में ज्यादा-से-ज्यादा तेज चलनेवाला हवाई जहाज एक घंटे में १५०० मील जाता है; अर्थात् हम एक घंटे में कराची से कलकत्ता पहुंच सकते हैं। पर गोली की रफ्तार इससे भी ज्यादा होती है, जो एक घंटे में कोई ४००० मील की रफ्तार से चलती है। ईश्वरकृत स्थूल चीजों में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और तारागण हैं, जिनकी गति काफी तेज है। पृथ्वी तो अपने अक्ष या धुरी पर २४ घंटे में महज २५,००० मील की मंजिल तय करती है। सूर्य पृथ्वी से कई गुना बड़ा है। उसका व्यास ही ८,६६,००० मील लम्बा है, जो पृथ्वी के व्यास के सौ गुने से भी अधिक है। उसे यह चक्कर लगाने में प्रायः २५ दिन लग जाते हैं। हां, स्थूल होते हुए भी सूर्य पृथ्वी की तरह घन नहीं है।

पर इन सबकी तुलना में शब्द की—जो इनसे सूक्ष्म है—गति इतनी तेज है कि १०,००० मील से भी बेतार के यन्त्र द्वारा हमें एक सेकेंड में शब्द मिल जाता है। रोशनी एक सेकेंड में १,८०,००० मील सफ़र करती है। इससे सूक्ष्म यदि मन को मानें तो उसकी गति का तो कोई माप ही नहीं; हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि मन की भी गति है और अत्यन्त वेगवान् है। यदि मन से आत्मा को और अधिक सूक्ष्म कहें तो उसकी कोई गति है या नहीं, यह भी बताने में हम असमर्थ हैं। अर्थात् ज्यों-ज्यों सूक्ष्म तत्त्व होते गये, उनकी शक्ति और गति भी बढ़ती गई।

आत्मा की गति भी होती ही होगी। अत्यन्त गतिशील वस्तु हमारी स्थूल आंखों से चलायमान नहीं दिखाई देती बल्कि स्थिर ही लगती है। यही हाल आत्मा की गति का भी हो सकता है। अर्थात गति हो भी तो हमारे पास उसके माप का कोई साधन नहीं।

अत्यन्त गतिशील वस्तु हमें स्थिर इसलिए दिखाई देती है कि हमारी आंख उस गति का अनुसरण नहीं कर सकती। हां, ऐसे कैमरे अवश्य होते हैं, जो काफी तेजी से चलती चीज की तस्वीर भी खींच सकते हैं। सूक्ष्म वस्तु के माप-तौल के लिए उतना ही सूक्ष्म यन्त्र चाहिए जितनी कि वस्तु सूक्ष्म है।

वैज्ञानिक लोग पृथ्वी का कितना वजन है, यह बता सकते हैं। पृथ्वी ही क्यों, सूर्य कितना बड़ा है, चन्द्रमा का तौल क्या है, यह भी बता सकते हैं; पर अणुओं का भी अणु यह कितना छोटा है, उसमें कितना वजन है, उसका क्या माप है, यह हम नहीं बता सकते, क्योंकि उसके माप-तौल का हमारे पास कोई यन्त्र नहीं है। तो फिर मन और आत्मा तो अणु से भी सूक्ष्म ठहरे। उनका माप-तौल कैसे हो ? जो हो, हमारी यह लाचारी भी सूक्ष्म की महत्ता को ही प्रमाणित करती है।

जल में एक शक्ति है। पर जल जब वाष्प बन जाता है तो वही शक्ति बहुत बढ़ जाती है। करीब चार सेर जल के साधारण वाष्प में एक घोड़े की जितनी ताकत होती है। और यही भाप यदि और भी सूक्ष्म हो तो इससे भी ज्यादा प्रचंड वेगवती बन जाती है। मतलब यह हुआ कि जल ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होता गया त्यों-त्यों उसकी शक्ति बढ़ती गई।

नानकजी ने जब कहा, 'नानक नन्हे ह्वै रहो, जैसी नन्ही दूब। घास-पात जर जायंगे, दूब खूब की खूब।' तो उन्होंने यह कहा तो था किसी दूसरे ही प्रसंग में, पर इसमें से भी व्यापक अर्थ निकालें तो सूक्ष्म का माहात्म्य मिलता है। गेहूं के पौधे तो सूख जाते हैं, पर गेहूं के ५,०००हजार साल पुराने बीज मोहेंजोदड़ो और मिश्र के पिरामिड में मिले हैं। उनमें अब भी अंकुर विद्यामान

हैं। वट के बीज में हजारों साल सूक्ष्म रूप से वट निवास करके मिट्टी-जल में मिलकर फिर वही महाकाय वृक्ष बन जाता है।

संसार में जितने रंग हम देखते हैं, वे सारे-के-सारे सूर्य की किरणों से हमें मिले हैं। और फिर भी सूर्य की किरणें कब रंग देती हैं, कैसे रंग देती हैं, इसका हमें पता नहीं। हमें विज्ञान बताता है कि सूक्ष्म की शक्ति, गति और जिन्दगी स्थूल से अनेक गुनी अधिक है। और यदि हम ऐसी एक वस्तु की कल्पना करें जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो तो फिर तर्क से यह भी माना जा सकता है कि उस सूक्ष्मतम की शक्ति अनन्त है और आयु भी अनन्त है।

जल वाष्प बनकर प्रचण्ड शक्ति-संपन्न हो जाता है तो क्या यह न मानें कि मनुष्य की मृत्यु ही उसका अन्त नहीं है? जल से वाष्प बनता है, यह जल का अन्त नहीं है तो फिर मनुष्य-शरीर का अन्त मनुष्य का अन्त क्यों? संभव है, उसका सूक्ष्मीकरण कुछ नये गुल खिलाता हो, कुछ नई शक्ति पैदा करता हो।

कहते हैं कि स्थूल शरीर जो हमें दिखाई देता है, असल में तो यह परमाणुओं का एक पुंज है। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि परमाणु के भीतर एक एलेक्ट्रोन और दूसरा प्रोटोन होता है जो कि भिन्न दिशाओं में करोड़ों

चक्कर एक सेकेंड में लगाते रहते हैं । क्यों लगाते हैं, यह हमें पता नहीं ।

अब मनुष्य मर गया, जल गया, गड़ गया, डूब गया, तो भी उन परमाणुओं का नाश तो हुआ नहीं । परमाणु तो फिर भी उसी गति से चक्कर लगाते रहेंगे । जो बुनियादी चीज थी, वह तो सर्वदा है । जो पुंज था, वही मात्र बिखर गया ।

महात्मा गांधी मर गये तो क्या उनका सचमुच अन्त हो गया ? जिन अणु और परमाणुओं के समूह से वह बने थे, वे परमाणु आज भी हैं । उसी तरह चक्कर काटते हैं । उनके विचार संसार के सामने हैं, उनकी कीर्ति मौजूद हैं । उनका तप जिन्दा है । हमारे पास इन इन सब चीजों को देखने का कोई साधन नहीं । इसलिए हम ऐसा मानते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया । पर हमें क्या खबर कि आगे चलकर क्या हुआ ? जल से वाष्प बना, फिर क्या हुआ ?

परमाणुओं से भी सूक्ष्म जो शक्ति है, उसका हुलिया तो वैज्ञानिक भी नहीं बता पाते । पर यदि सूक्ष्मतम का साक्षात्कार करने में हम विवश हैं तो क्या यह मानें कि बस एक हद के बाद केवल एक दीवार है और सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम-जैसी कोई चीज है ही नहीं ? बात तो यह है कि इस सूक्ष्मीकरण का कोई अन्त नहीं दीखता । हम विवश हैं, इससे सूक्ष्मतम असिद्ध नहीं होता ।

एक मिट्टी के टुकड़े को पीसते जाइये। उसके अणु-अणु बना डालिये, फिर भी उसको और सूक्ष्म बनाने की गुंजाइश रह ही जायगी। हमारे पास कोई साधन नहीं है कि हम उन परमाणुओं को इतना सूक्ष्म करदें कि उसके आगे और सूक्ष्मीकरण की कोई गुंजाइश ही न रहे। कोई परमाणु या परमपरमाणु ऐसा नहीं है जो अविभाज्य हो। सूक्ष्मतम के बाद भी सड़क आगे चली ही जाती है, जिसपर हमारी कल्पना-शक्ति भी दौड़ने में असमर्थता प्रकट करती है।

विज्ञान यह तो बताता है कि स्थूल से सूक्ष्म ज्यादा करामाती है, पर सूक्ष्म का अंतिम रूप क्या है, यह कोई नहीं बता सकता। उसका क्या रूप है, क्या गुण है, क्या शक्ति है, इसे किसीने नहीं जाना।

इसी सूक्ष्मतम को तो लोग 'राम', या 'ईश्वर' के नाम से नहीं पुकारते ? जो हो, वह धनुषधारी राम, जो कुछ सांवले-से रंग का है, जो सीता और अपने भाइयों के साथ सिंहासन पर बैठकर दया का दान देता है, जो कभी दण्ड भी देता है, जो कभी मन्द मुस्कान करता है तो कभी क्रोध से भृकुटी चढ़ाता है, जो कमललोचन अपने भक्तों के लिए अमृत और अभक्तों के लिए विष बनता है, उस राम का इस सूक्ष्मतम से हुलिया नहीं मिलता। गांधीजी का राम उपर्युक्त राम से अवश्य भिन्न था।

हमारे पूर्वज कुछ अजीब लोग थे, जो खाते थे,

पीते थे, पहनते थे, भोग भोगते थे, नाच-रंग भी करते थे, शराब भी पीते थे, पर इसीसे उन्हें सन्तोष नहीं होता था। भोग तो भोगा पर फिर पूछने लगे, इसके बाद क्या ? इसके पीछे क्या ? इस खोज में शायद और लोगों ने इतनी जहमत नहीं उठाई जितनी हमारे पूर्वज आर्यों ने। कितना जान गये यह तो कौन बतावे, पर **'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** कहकर उन्होंने इतना इशारा तो कर ही दिया कि वह 'कूटस्थ' नाश होनेवाल सूक्ष्म 'अक्षर' कुछ न्यारी चीज है। उस कूटस्थ अक्षर की उपासना कहो या खोज कहो वे लोग करते ही रहे। इस खोज में उन्होंने जंगल की राह ली।

सूक्ष्म का जो वर्णन आज वैज्ञानिक लोग करते हैं, वह केवल उन आरण्यक सभ्यतावाले आर्यों का समर्थन-मात्र है।

हमारे पूर्वजों के पास माइक्रोस्कोप नहीं थे। और गहरे पानी में उतरने के बाद माइक्रोस्कोप या टेस्ट-ट्यूब की जरूरत भी नहीं रहती। ज़रूरत रहती है विचार और मनन की। उसी मनन द्वारा सूक्ष्म की खोज करते-करते उन्होंने लोगों से कहा कि एक कूटस्थ है, जिसका नाश नहीं होता और उसीका नाम ईश्वर है। वह ईश्वर पुण्यशील को सुख देता है और पापी को दुःख। पुण्यशील से उनका तात्पर्य उससे था जो

परोपकारी हो और पापी उनकी नजर में वह था जो पीड़क हो। **'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'**।

इतनी गहरी खोज और इतनी क्लिष्ट भाषा के बाद यह सीधा-सादा कथन आकाश से गिरने-जैसा लगता है। पर यहां अबुद्ध और बुद्ध के नुस्खों का समन्वय मालूम होता है। विज्ञान किस काम का यदि उसका उपयोग सर्वसाधारण न कर सकें? हम जिस रोटी को खाते हैं, उसके पीछे अनेक क्रियाएं पड़ी हैं। बीज का अंकुरित होना, पौधा उगना इत्यादि से लेकर आटा पीसना और रोटी बनाने तक की अनेक चमत्कारिक क्रियाएं एक सीधी-सी रोटी के पीछे हैं। पर उससे सर्वसाधारण को क्या मतलब? जन-समाज को एक क्लिष्ट आविष्कार का निचोड़ सीधी-सादी भाषा में समझा देना यही वैज्ञानिक का काम है। **'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानांकर्मसंगिनाम्'** कहकर उन्होंने यह स्वीकार भी कर लिया कि हम मूर्खों की ही भाषा में समझा रहे हैं।

विद्युत्-विद्या एक जटिल शास्त्र है, जिसे समझने के लिए प्रगाढ़ पांडित्य की जरूरत है। पर हमें एक सीधी-सी भाषा में समझाया गया है कि बिजली में भी नर और नारी का भेद होता है। नर-चुम्बक दूसरे नर-चुम्बक को धक्के मारता है, पर नारी-चुम्बक से लिपट जाता है। हम पूछते हैं कि ऐसा क्यों होता है?

वैज्ञानिक लोग लाख हमें क्लिष्ट भाषा में समझाते भी हैं, पर नासमझ को इतना ही अन्त में बताकर सन्तोष करना पड़ता है कि यह बिजली का नियम है। क्यों है, इसका कोई उत्तर नहीं। अपढ़ों के लिए भाषा भी प्राकृत होती है। और एक हद के बाद तो जो पढ़े-लिखे हैं, वे भी अपढ़ ही हैं। इसलिए तो अन्त में सरल भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है। **'सूक्ष्मत्वादविज्ञेयम्'** सूक्ष्म होने के कारण से जाना नहीं जाता, ऐसा गीता-कार ने कहा है। संभव है, इसीलिए हम सब अपढ़ों के लिए यह **'मोर मुकुट मकराकृति कुंडल'** वाला वंशीधर रचा गया हो।

तो यह तो सही है कि जो हम देखते हैं, उतना ही नहीं है। इस दृश्य जगत् के पीछे एक अदृश्य सूक्ष्म है, जो **'अणोरणीयान्महतो महीयान्'** है, जो कभी नष्ट नहीं होता।

पर संसार का सौंदर्य केवल सूक्ष्म से ही नहीं है। हलुआ भी उन्हीं अणु-परमाणु और एलक्ट्रोन और प्रोटोन का बना है और कड़ुई तुमड़ी भी उन्हीं अणु-परमाणुओं की बनी है। सोना और चांदी दोनों ही उन्हीं अविभाज्य अणु-परमाणुओं से बने हैं। पर जो कड़ुई तुमड़ी और हलुए को या सोने और चांदी को एक ही वस्तु करार देता है, वह निरा मूर्ख है। जिन्दा और मुर्दा दोनों एक ही परमाणु-पुंजों से बने हैं, पर

एक लालन-पालन योग्य है तो दूसरा जलाने लायक है। अच्छी तस्वीर की क्या कीमत, यदि हम कहें कि यह तो केवल रंगों का पुंजमात्र है और रंगों के डिब्बे और एक सुन्दर तस्वीर में कोई फर्क नहीं ?

ईश्वर का ऐश्वर्य और सूक्ष्म की करामात किस काम की, यदि संसार अणु-परमाणुओं से ही भरा हो और स्थूल का कहीं नाम भी न हो ?

हम जब कहते हैं कि भले की भलाई ही होती है और बुरे की बुराई, तो इसका प्रदर्शन भी तो स्थूल में ही होता है। बात यह है कि सूक्ष्म स्थूल के बिना अपूर्ण है। ईश्वर **सत्यं शिवं सुन्दरम्**' है। यदि सूक्ष्म 'सत्यम्' और 'शिवम्' है तो स्थूल 'सुन्दरम्' है। बल्कि 'शिवम्' स्थूल में भी वर्त्तमान रह सकता है। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के अणु-परमाणुओं से बना हुआ उपकारक जल इसका प्रमाण है।

सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से सूक्ष्म, यही ईश्वर की कहिये या प्रकृति की कहिये, निरन्तर होती रहनेवाली अपरम्पार लीला है।

: ४ :

गति और प्रगति

एक जमाना था जब कि आज की तरह यात्रा का सुभीता नहीं था। हवाई जहाज तो चले ही न थे, मोटर सुनने तक को ही थी, रेल सब जगह न पहुंच पाई थी, सड़कें भी कम थीं। फिर राजपूताना तो और भी पिछड़ा हुआ ठहरा। हमारे गांव से नजदीक-से-नजदीक जो स्टेशन था, वह ५५ मील दूर था। इसलिए जहां भी जाना होता था, वहां ऊंट या रथ की सवारी का ही उपयोग करना पड़ता था।

रथ अक्सर औरतों का वाहन माना जाता था, इसलिए आम लोगों की सवारी ऊंट ही थी। अच्छा ऊंट घंटे में १० मील जा सकता था। साधारण ऊंट घंटे में ५ मील तय करते थे। यह उस जमाने की गति थी।

एक मर्तबा मुझे लगातार ६ दिन सुबह से शाम तक ऊंट की सवारी करनी पड़ी थी। पर उस समय कोई थकान मालूम नहीं दी। मुझे अब लगता है कि थकान का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, शायद मन से भी हो। क्योंकि आज मैं यह पाता हूं कि चार घंटे के वायुयान के सफ़र में जितना मानसिक

श्रम पड़ता है, उतना श्रम उन दिनों ऊंट की ४ दिन की सवारी में नहीं पड़ता था।

जिन-जिन रास्तों से मैं ऊंट पर गुजरा हूं, उनके सजीव चित्र वर्षों बाद अब भी मेरी आंखों के सामने नाचते हैं। 'टोलियासर की भर', 'इंदोखली जोहड़ी', 'झुंझनू की बीड़ी', 'मूहाणे की बणीड़, 'मोड़ो डूंगर'—इस तरह के सैकड़ों स्मारक स्मृति पर जम गये हैं, क्योंकि ऊंट पर गुजरते हुए जो दृश्य आंखों के पट पर गिरते थे, उन्हें फुर्सत के साथ हजम करने का हमें मौका मिलता था। उनपर नुक्ताचीनी होती थी। 'अब की दफे कालू का खेत फीका जान पड़ता है', 'इस ढाव में पिछले साल तो पानी एक पुरस था। अब की बेर तो कम जान पड़ता है', 'वह पीपल कहां गया- जो मुहमदिये जोहड़े के टीले पर था'—इस तरह के प्रश्न-परिप्रश्न, उत्तर-प्रत्युत्तरों में आस-पास का भूगोल चिपट-चिपट-कर हमारे मन पर पूरा अंकित हो जाता है। मनो-वृत्ति भी ऐसी बन गई थी कि विलम्बित गति सुख-दायक मालूम होती थी। पर रेल में बैठते ही द्रुत गति ने मानसिक समतौल को अचानक हिला दिया। ऊंट के सफर का मापतोल अलग था। कल हम पिलानी थे, आज झुंझनू पहुंच गये। दिन तो एक बीता, पर अन्तर तय किया केवल २५ मील का। वही भूमि,

वही भाषा, वही प्रदेश, वही चाल-चलन, सब चीजें वही। समय बीता, उसका असर हुआ, पर आस-पास की परिस्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ, इसलिए मन आसानी से समय की गति के साथ मेल रखता रहा। अब रेल के सफर में स्थिति बदल गई। कल कलकत्ता थे तो आज दिल्ली पहुंच गये। सारा ढंग वदल गया। नया दृश्य, नई भाषा, नया वातावरण। पुराना नेह-नाता एक ही दिन में टूट गया। नया आया। मन को इन सब जोड़-तोड़ों में क्या परिश्रम होता है, यह शायद कम लोगों ने नापा होगा। पर इनमें श्रम होता है, थकान होती है।

हम अंधेरे में-से अचानक उजाले में आते हैं तो आंखों में चकाचौंध होने लगती है। आंखें खुली रखने में कुछ पल तक श्रम पड़ता है। कुछ पल के बाद उस परिवर्तन के हम आदी हो जाते हैं। पर हर एक क्षण यदि हमें बारी-बारी से अन्धकार और उजाले का मुकाबिला करना पड़े तो हमारा शरीर और मन—दोनों थक जायं। रेल के सफर में दृश्य जिस तेजी से बदलते हैं, उसकी अपेक्षा समय धीमी गति से चलता है। दोनों की रफ्तार का समन्वय टूट जाता है।

रेल में अब 'ढाणी का जोहड़ा' और 'स्वामी की कुई' इतनी तेज़ी से हमारी आंखों से ओझल हो जाते हैं कि उनकी निरख या पहचान की तो फ़ुर्सत ही नहीं

मिलती और इसलिए इन सबका साथ छूट जाता है। अब तो केवल तार के खम्भे या ऐसे दृश्य हमारे साथी रह जाते हैं, जो तेजी से भागते-दौड़ते आंखों में घुसते हैं और मानो घुसने के पहले ही निकल जाते हैं। सूझे तो क्या और समझ में आये तो क्या ?

फिर भी स्मृति को कुछ तो भोजन चाहिए। इसलिए स्टेशन-भर से सन्तोष किया। दिल्ली के वाद गाजियाबाद आया, कानपुर, इलाहाबाद, मुगलसराय आया, फलां स्टेशन आया। बाद में सो गये और सुबह हावड़ा पहुंच गये। सारा-का-सारा चित्र ऐसा है, मानो एक हजार पन्ने की एक पुस्तक को एक पृष्ठ की एक लाइन यहां से, एक लाइन वहां से पढ़कर समाप्त किया और कह दिया कि पोथी पढ़ ली। क्या पढ़ ली और क्या समझे, यही हाल दिल्ली-हवड़ा की रेल-यात्रा का समझिये। ऊंट की यात्रा में जो भूगोल से सम्बन्ध था, वह तो गया। अति शीघ्र परिवर्तन के कारण मानसिक समतौल प्राप्त करने में प्रयास करना पड़ा वह अलग।

पर अब तो वायुयान चला। कलकत्ता से चले और ३॥ घंटे में दिल्ली पहुंच गये। रास्ते-भर इंजिन का घोंघाट रहता है। न कोई स्टेशन है, न तार के खम्भे। कोई शहर दिखाई दे तो भी कुछ पहचाना नहीं जाता।

कलकत्ता से निकलते ही हम गंगा को बाईं ओर, दामोदर को दाहिनी ओर छोड़ देते हैं। जिसे पता हो

वही पहचानता है कि यह गंगा है और यह दामोदर। पर यहं भी झटपट आंखों से ओझल हो जाता है। कुछ देर बाद नीचे की जमीन लाल दिखाई देती है। पहाड़ दीखने लगते हैं तब पता चलता है कि झाड़खंड से गुजर रहे हैं। इसके बाद फिर गंगा प्रकट होती है जो सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी आगे-आगे पसरी हुई दिखाई देती ही रहती है।

जो लोग उत्तरवाहिनी का माहात्म्य बखानते हैं, वे वायुयान से देखें कि एक जगह नहीं, सैकड़ों जगह गंगा उत्तरवाहिनी हो गई है। सैकड़ों जगह पश्चिम और दक्षिणवाहिनी है।

जैसे कोई शराबी लड़खड़ाता हुआ अपने ध्येय की ओर चलता जाता है, वैसे ही गंगा भी हिमालय से समुद्र तक अपने ध्येय की तरफ अग्रसर अवश्य होती जाती है, पर समय की, जमीन की और पानी की बरबादी करती हुई। यदि रेल या नहर की तरह सीधी चलती-चलती पहुंचती तो बहुत किफायत होती। जमीन बचती, समय कम लगता, पानी कम खर्च होता।

पर ईश्वरीय करतूतों में कोई व्यवस्था या किफायत नजर नहीं आती। बादल पानी बरसाता है तो किसी जगह ज्यादा, किसी जगह कम। कोई बादल छोटा, कोई मोटा, कोई काला, कोई सफेद। एक तरह की अराजकता-सी होती है।

लोग मिलों में कपड़ा बनाते हैं, चीनी बनाते हैं इसमें जरा वानगी में अन्तर पड़ता है तो व्यापारी कहता है : साहब, कपड़ा सोलह आने इकसार नहीं आता। एक तार से इकसार तो है ही, धोती की जगह साड़ी तो नहीं बना डालते। पर शिकायती शिकायत करते ही रहते हैं। हां, ईश्वर से कोई नहीं पूछता—आपके बादल काले, पीले, सफेद, मोटे, पतले हजारों तरह के क्यों होते हैं ? नदियां सीधी क्यों नहीं जातीं ? कोई व्यवस्था है ही नहीं। कहीं २० इंच पानी डाल दिया, कहीं सूखा पड़ा है....मनुष्य के मापदंड से तो यह काफी अन्धेर है। पर यह तो विषयान्तर हुआ।

बात यह है कि वायुयान में चढ़ने पर जमीन के साथ जो थोड़ी-सी आत्मीयता बच रही थी, वह भी चली गई। पर सबसे बड़ी कठिनाई तो दिल को झटपट बदलने में पड़ती है।

कलकतिया दिल लेकर मैं ४ घंटे पहले कलकत्ता से चला था। हरीसन रोड, बालीगंज, मैदान, गवर्नमेन्ट हाउस को भूलने भी न पाया था कि यहां मुलाकात होती है राष्ट्रपति-भवन से, लोदी गार्डन से। मन की गति ही अजीब है। समय कम रफ्तार से चलता है, फासला बड़ी तेजी से।

आपने देखा होगा कि अभी आप अपने नौकर को जोरों से डांट रहे हों; आंखें लाल-पीली, मुंह उग्र हो;

बदन कांपता हो; पसीना छूटता हो—उसी दम आपके मालिक या पूज्य आ जायं तो झट आप उनका स्वागत करते हैं, विनम्रता दिखलाते हैं। अब कहां तो वह उग्र कोपाग्नि और कहां वह बरफ-सा-ठंडापन ! इस अचानक परिवर्तन में बड़ा प्रयास करना पड़ता है। उससे कितनी थकान होती है, इसका माप करने से ही पता चलता है। वही हाल वायुयान की यात्रा का समझिये। बंगला दिल लेकर चलते हैं और फिर कुछ घंटो में ही दिल्लीवाला दिल लेकर उतरते हैं। यह बड़ी कठिनाई है। चाहे और लोगों को न हो, मुझे तो है।

सुना है कि चीनी लोगों का फासला मापने का अजीब तरीका है। उनका माप प्रयास से सम्बन्ध रखता है, न कि फासले से। एक गांव ३ मील सीधी सड़क पर हो और दूसरा गांव ३ मील पहाड़ की चट्टान पर हो तो एक का फासला ३ मील और दूसरे का २० मील या कुछ इतना ही माना जाता है। यह तरीका सही है या गलत, यह बहस-तलब बात हो सकती है। पर इसमें कुछ बुद्धि की बात है जरूर। क्या फायदा यह कहने में कि साहब, दोनों गांव ३-३ मील की दूरी पर हैं ? एक सेर सोना और एक सेर मिट्टी को क्या एक ही समझा जायगा ? तो क्या सभी घंटे, घंटे ही होते हैं ? कौन-से घंटे ? ऊंट के ४ घंटे या वायुयान के ४ घंटे ? सुख के ४ घंटे या अत्यन्त वेदनावाले ४ घंटे ? कवि का 'सब

दिन होत न एक समान' कविता में प्रयोजन दूसरा रहा हो, पर 'सब घंटे होत न एक समान' भी कम सही नहीं है।

मैं नहीं कह सकता कि पिलानी और झुंझनू का ३॥ घंटे का फासला ऊंट के सफर से और दिल्ली और कलकत्ता का ३॥ घंटे का फासला वायुयान से--इन दोनों में-से कौन-सा फासला अधिक है, कौन-सा कम है। कहना यह है कि फासले या समय के माप की यह सारी-की-सारी उलझन अभी सुलझनी बाकी है।

हर गति की गति को पहचानने के बाद, असलियत क्या है—इसका निर्णय होगा। सम्भव है, यह निष्कर्ष निकले कि न कोई दूर है, न निकट। लन्दन दिल्ली से, बनिस्बत दिल्ली लखनऊ के निकट भी हो सकता है और दूर भी। और दोनों का अंतर एक हो सकता है, नहीं भी हो सकता है।

सवाल यह है कि हम काल और दिशा को किस दृष्टि से देख रहे हैं ? आपकी बीवी अपने बच्चे की मां भी है, अपने पिता की बेटी भी है, बाबा की पोती भी है, भतीजे की चाची भी है, नौकर की राक्षसी भी है, पड़ोसिन की बैरिन भी है। तो कैसे कहें कि वह सभी की प्राण-वल्लभा है।

बात यह है कि हम अभी अज्ञानी हैं और अज्ञानियों ने हर चीज का जो गलत-सही माप कायम कर लिया,

उसको श्रद्धा से मानकर बेवकूफी से तोते की तरह दोह-राते जाते हैं।

कहते हैं, सबसे तेज गति रोशनी की है, जो एक सेकंड में १,८०,००० मील की रफ्तार से चलती है। अनेक तारे ऐसे हैं, जिनकी रोशनी को हमारी इस पृथ्वी पर पहुंचने में एक हजार साल लग जाते हैं। यह भी हो सकता है कि सन् ६६० में किसी तारे की रोशनी अपने जन्म-स्थान से चलकर अब यहां पहुंची हो और इसके पहले उस तारे का नाश भी हो चुका हो। ऐसा हो तो भी वह रोशनी सन् १६६० से हमारी इस पृथ्वी पर टिमटिमाना शुरू कर देगी और तारे की मृत्यु-तिथि से लेकर पूरे एक हजार साल तक टिमटिमाती ही जायगी। वह तारा किसीके लिए तो मर चुका, पर हमारे लिए जबतक उसकी रोशनी पहुंचती है, वह जिन्दा ही माना जायगा। तारे के बाशिन्दे तारे की मृत्यु के बाद वहां से निकलकर यहां पहुंचें तो उस तारे का फिर दर्शन कर सकेंगे। उनके लिए वह तारा मर भी गया था और अब जिन्दा भी है।

यहां भूत, वर्त्तमान और भविष्य सब एक ही हंडिया में खिचड़ी की तरह आपस में मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं। इतना ही नहीं, भूत भविष्यत् भी बन जाता है। गति का यह पहलू बड़ा गड़बड़झाला पैदा करता है।

पर मन की गति और भी तेज है। एक क्षण में हम दूर-दूर तक पहुंच जाते हैं। चूंकि मन की गति का कोई माप-तौल नहीं, इसलिए लोग उसे गति स्वीकार नहीं करते पर इसका भी कोई मापतौल तो होना ही चाहिए। मन की गति, गति क्यों नहीं ?

पुराणों में कथा आती है कि एक के लिए जो एक पल था, वह दूसरे के लिए एक युग साबित हुआ। सृष्टि का जीवन ब्रह्मा का एक दिन होता है और प्रलय उसकी रात्रि होती है। हमारी और ब्रह्मा की रात्रि का यह विशाल भेद इसलिए बताया गया है कि काल का कोई असली माप है ही नहीं। एक मिनिट एक साल से भी लम्बा हो सकता है। यह साधारणतया उपहास की-सी चीज मालूम होती है। पर मिनिट छोटा ही है और साल लम्बा, यह कहना भी हर हालत में सही क्यों मानना चाहिए ?

वैज्ञानिक यह बताते हैं कि सपने में जो घंटों या दिनों तक हम भुगतते हैं, वह दरअसल तो एक क्षण की लीला होती है। घंटों का सपना एक मिनिट में खतम होता है। मन से हम बुढ़ापे की सैर करके कुछ क्षण के बाद वापस जवानी में आ जाते हैं और फिर बचपन में घुसकर फिर अपनी असली आयु में प्रवेश कर जाते हैं। इस तरह भी हम भविष्य, भूत और वर्त्तमान का सफर कर आते हैं। इसमें मजा यह रहा कि शरीर

तो बैठा है पर मन तेजी के साथ कभी भविष्य, कभी भूत से टक्कर लेकर फिर वर्त्तमान में आ जाता है। पास में बैठनेवाले लोग नहीं जानते कि हम सफर कर रहे हैं, क्योंकि उन्होंने न तो हमें बुढ़ापे की सुस्ती में पाया और न बचपन की खिलखिलाहट में। मन दौड़ता है, लेकिन देख सकता है। जब कोई पहिया तेजी के साथ घूमता है तब हमें वह कहां घूमता हुआ नजर आता है, स्थिर जैसा ही तो दीखता है!

कोई बता नहीं सकता, पर मन की गति से आत्मा की गति और भी सूक्ष्म होनी चाहिए, और इसका तमाशा तो और भी उलझन में डालनेवाला होता होगा।

हम सौ साल जिन्दा रहते हैं और एक कीड़ा एक क्षण जिन्दा रहता है। दोनों को जन्म, शैशव, युवावस्था और बुढ़ापे में से गुजरकर मृत्युघाट पर पहुंचना होता है। क्या जो अनुभव हमने एक सौ साल में किया, वह सारा-का-सारा कीड़े ने एक क्षण में न किया होगा? सम्भव है, एक ही क्षण में वह कीड़ा भी पढ़-लिखकर कालेज में बी. ए., एम ए. पास करके, नेता बनकर, मन्त्री-पद लेकर अपनी संसार-लीला समाप्त करके, अपने असंख्य अनुयायियों को दुःखसागर में निमग्न करके, लीला-विस्तार समाप्त करके स्वर्गलोक को सिधारा हो!

लोग कहेंगे कि इतने छोटे क्षण में इतनी घटनाएं कैसे समा सकती हैं ? यही तो लोगों की नासमझी है। एक मिनिट के सपने में एक घंटा हम कैसे बिताते हैं ? छोटे-से अणु-बम में इतनी शक्ति है, यह किसने माना था ? रोज आप सुनते हैं **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**, फिर हमें शंका क्यों ? बात यह है कि काल और दिशा का हमारा यह माप-दंड सारा-का-सारा झूठा है।

हमने आजतक माना है कि हमारे पांव नीचे की ओर हैं और सिर ऊपर की तरफ। इस विश्वास को मिटाना कठिन है। मिटाने की कोई जरूरत भी नहीं है, हालांकि मैं यह नहीं कहता कि सिर ऊंचा और पांव नीचे, यही सही है।

हमारे यहां ठीक दुपहरी की वेला अमरीका में रात होती है। सूरज यहां हमारे सिर पर होता है और अमरीका में पांव के नीचे होता है। पर अमरीका का पांव औरहमारा पांव एक दूसरे की ओर होते हैं और अमरीका का सिर हमारे सिर से उल्टी दिशा में होता है। जब हम कहते हैं कि हमारा सिर ऊंचा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमरीका का पांव ऊपर की तरफ और उसका सिर नीचे की ओर हैं। तो फिर हर हालत में पांव नीचे और सिर ऊंचा कैसे बना रहा ? पर इस विश्वास को निभाना ही ठीक है। सत्य को जानने में कोई मजा नहीं है। भूलभूलैयां में जो मजा है, वह ज्ञान में कहां ! इस-

लिए मानते रहिये कि सिर ऊंचा है और सुखी रहिये। इस भ्रम को मिटाने का प्रयास करना दुःख को निमन्त्रण देना है।

यह प्रगति अवश्य ही दुःखदायक है। जो फासला हमारे बाप-दादों ने, मार्कोपोलो, इब्नबतूता, अलबरूनी, फाहियान, हुएनसांग इत्यदि ने सालों में तय किया, उसे घंटों में तय करना वैसा ही है जैसा एक साल का भोजन एक दिन में हजम करना।

पर करें तो क्या करें? इधर कुआं, उधर खाई। नई गति ने तकलीफ पैदा कर दी है। जिस माप को हमनें आज तक सही माना था, वह माप झूठा साबित होता है। पुराना अज्ञान जाता है और नया अज्ञान आता है। इससे उद्वेग होता है, कौतूहल होता है। अशांति होती है और क्लेश होता है। पर अब तो फंस गये सो फंस गये। निकल नहीं सकते।

एक बात है, इस गति का मुकाबला करने के लिए हमें युवकों पर भरोसा करना चाहिए। बूढ़े तो अब से पढ़ने लगे।

लेखक की अन्य रचनाएं

१. रुपये की कहानी
२. गांधीजी की छत्रछाया में
३. बापू
४. डायरी के पन्ने
५. बिखरे विचार
६. जमनालालजी